वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा

(संस्कृत तथा भाषानुवाद सहित)

युधिष्ठिर मोमांसक

प्रकाशकः—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़
सोनीपत-हरयाणा

द्वितीय संस्करण ६००
संवत् २०४४
मूल्य Rs. 3/
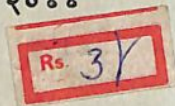
मुद्रकः—
श्री शान्तिस्वरूप कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ सोनीपत-हरयाणा

वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा

प्रस्तुत निबन्ध में हम **वेद श्रुति** और **आम्नाय** संज्ञा पर विचार करेंगे। मीमांसाशास्त्र में **वेद श्रुति** और **आम्नाय** पदों का बहुधा प्रयोग मिलता है। इन संज्ञाओं के सम्बन्ध में वैदिकों में अनेक मत प्रचलित हैं। इसलिये इनके विषय में यह विचार करना आवश्यक है कि इन संज्ञाओं का मुख्यार्थ क्या है? पहले हम 'वेद' संज्ञा पर विचार करते हैं।

वेद-संज्ञा-मीमांसा

वेद शब्द के विविध अर्थों पर विचार करने से पूर्व इस शब्द के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

द्विविध वेद शब्द—वेद शब्द वैदिक-वाङ्मय में दो प्रकार का उपलब्ध होता है। एक—**आद्युदात्त** और दूसरा—**अन्तोदात्त**। आद्युदात्त वेद शब्द ज्ञान का पर्याय है, और अन्तोदात्त कुशाओं की मुष्टि से निर्मित यज्ञीय पदार्थ-विशेष का वाचक है। ऐसा वेदार्थ के जाननेवाले आचार्य कहते हैं।

आद्युदात्त वेदशब्द का निर्वचन हमें वैदिक-वाङ्मय में नहीं मिला। अन्तोदात्त का निर्वचन वैदिक-वाङ्मय में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद्वेदस्य वेदत्वम्। तै० सं० १।७।४।६॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दन्। तै० ब्रा० ३।३।६।६॥

तं (यज्ञं) वेदेनाविन्दंस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। मै० सं० १।४।८॥

तां (वेदिं) वेदेनाविन्दंस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। मै० सं० ४।१।१३॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दंस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । का० सं० ३१।१२॥
तं (यज्ञं) वेदेनान्वविन्दंस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । का० सं० ३२।६॥
तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दंस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । कपि० ४७।११॥

इन सभी उद्धरणों में दर्भमुष्टि से निर्मित यज्ञीय उपकरण के वाचक वेद शब्द का निर्वचन है, यह इन प्रकरणों के अनुशीलन से सर्वथा विस्पष्ट है। शुक्लयजुः की संहिताओं में भी **वेदोऽसि** (माध्य० २।२१; काण्व १।७।७५) मन्त्र में दो बार पठित **अन्तोदात्त** वेदशब्द भी याज्ञिक-प्रक्रिया में वेदसंज्ञक यज्ञीयोपकरण का ही वाचक है, यह कात्यायन-श्रौत (३।८।२) के **पत्नी वेदं प्रमुञ्चति—वेदोऽसीति** वचन द्वारा वेद-प्रमुञ्चन में उक्त मन्त्र के विनियोग दर्शाने से स्पष्ट है।

वेद शब्द की द्व्यर्थता और द्विस्वरता को ध्यान में रखकर भगवान् पाणिनि ने **उञ्छादि** (अष्टा० ६।१।१६०) गण के **वेगवेदवेष्टबन्धाः करणे** गणसूत्र में घञन्त करणवाची वेद शब्द को अन्तोदात्त कहा है। करण अभिधेय से अन्यत्र घञन्त वेद शब्द आद्युदात्त होता है। यह अभिप्राय अर्थापत्ति से स्वतः प्राप्त होता है। इसी प्रकार अच् प्रत्ययान्त कर्तृवाचक वेदशब्द को चित्-प्रत्ययान्त होने से **चितः** (अष्टा० ६।१।१६३) नियम से अन्तोदात्तत्व प्राप्त होता था, उसे हटाकर आद्युदात्तत्व का विधान करने के लिये पाणिनि ने **वृषादि गण** (अष्टा० ६।१।२०३) में वेदशब्द का पाठ किया है।

इस निबन्ध में मीमांस्यमान ज्ञानपर्याय आद्युदात्त वेद शब्द है। यही ज्ञान-पर्याय वेद शब्द आधार और आधेय में अभेद के उपचार से[1] ज्ञान के आधार-भूत ग्रन्थों में भी प्रयुक्त होता है। यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेदशब्द का प्रयोग ग्रन्थमात्र में होना चाहिये, तथापि पङ्कज आदि शब्दों के

---

१. जैसे '**मञ्चाः क्रोशन्ति**' वाक्य में मञ्च (=मचान) शब्द मञ्चस्थ (=मचान पर बैठे हुये) पुरुषों के लिये प्रयुक्त होता है।

समान श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत ऋगादि कतिपय ग्रन्थों में ही प्रयुक्त होता है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

वेद शब्द किन-किन ग्रन्थों का वाचक है, इस विषय में बहुत काल से विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है।[1] यथा—

कुछ लोग '**मन्त्रसंहिताएं ही वेदपदवाच्य हैं**' ऐसा कहते हैं।[2]

दूसरे '**मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है**' ऐसा मानते हैं।[3]

अन्य '**आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का भी वेद में समावेश**' स्वीकार करते हैं।[4]

कतिपय '**कल्पसूत्र और मीमांसासूत्रों का भी वेदत्व**' मानते हैं।[5]

---

१. वस्तुतः हमारी दृष्टि में उपर्युक्त मतों में कोई विरोध नहीं है, इनमें प्रथम अर्थ मुख्य है, और शेष तत्तद् ग्रन्थों के जो पारिभाषिक अर्थ हैं, वे उन्हीं ग्रन्थों में ग्राह्य हैं।

२. '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' आपस्तम्ब सूत्र की व्याख्या में हरदत्त और धूर्तस्वामी दोनों ने लिखा है—**कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम् (आख्यातम्)**। इसी प्रकार स्वमी दयानन्द सरस्वती ने भी मन्त्र संहिताओं की ही वेदसंज्ञा मानी है। द्र०—ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका वेदसंज्ञाविचार प्रकरण।

३. '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' ऐसा वचन कृष्ण यजुर्वेद के सभी श्रौत-सूत्रकारों ने पढ़ा है। इसी प्रकार '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः**' कौषीतकि गृह्यसूत्र (३।१२।२३) का वचन है।

४. आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में उपनिषद् पर्यन्त ग्रन्थों की वेदसंज्ञा मानी है।

५. **विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः** (पार० गृह्य २।६।५) सूत्र के व्याख्यान में भर्तृयज्ञ ने '**तर्क**' का अर्थ '**कल्पसुत्र**' किया है। कल्पतरुकार ने '**मीमांसा**' लिखा है (द्र०—गदाधरटीका)। विश्वनाथ ने **न्यायसूत्र** का भी वेदत्व माना है। वह उक्त सूत्र की व्याख्या में लिखता है—'**तर्को न्यायमीमांसे**'।

अन्य **'षडङ्गों (छह वेदाङ्गों) का भी वेद में अन्तर्भाव'** चाहते हैं।[1]

इस प्रकार वेद शब्द के अनेक अर्थ भिन्न-भिन्न आचार्यों ने स्वीकार किये हैं, उनमें कौनसा अर्थ मुख्य है, और कौनसा गौण, यह विचार उत्पन्न होता है।

दो ही अर्थों की विचारार्हता

उक्त पांच अर्थों में आद्य दो अर्थ ही विचारने योग्य हैं। तृतीय पक्ष स्वीकार करने वाले भी आरण्यक और उपनिषद् का ब्राह्मणग्रन्थों में अन्तर्भाव मानते हैं। अतः यह मत भी द्वितीय मत के अन्तर्गत आ जाता है। चतुर्थ पक्ष पारस्कर गृह्यसूत्र के किन्हीं व्याख्याताओं द्वारा ही स्वीकृत है। पञ्चम मत तो गृह्यकार ने स्वयं अन्य-मत के रूप में ही उपस्थित किया है। इस प्रकार आद्य दो ही पक्ष विचारणीय रहते हैं। अतः इन दोनों में वेद शब्द का कौनसा अर्थ मुख्य है, और कौनसा गौण है, यह विचार किया जाता है।

यत्परः शब्दः स शब्दार्थः—इस न्याय से शब्द का जो अर्थ अपरिभाषित (=विशेष वचन द्वारा अप्रकाशित) होने से स्वाभाविक होता है, वह मुख्य होता है। और जो किसी वचन विशेष द्वारा परिभाषित (कथित) होने से कृत्रिम होता है, वह गौण कहाता है। इसी प्रकार साहचर्यादि[2] निमित्तों से जो विशेषार्थ जाना जाता है, वह भी नैमित्तिक होने से गौण होता है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

इस प्रकार प्रधान और गौण अर्थ के सर्वसम्मत लक्षण के अनुसार वेद शब्द के उक्त दो अर्थों में से कौनसा अपरिभाषित अर्थात् स्वाभाविक है और कौनसा किसी वचनविशेष द्वारा बोधित है, यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

ऋक्, यजुः और साम के मन्त्रों को पढ़ते हुये अध्येता वा श्रोता कहते हैं—

---

१. **विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके** (पार० गृह्य २।६।५, ६) इन सूत्रों की गदाधर की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

२. द्रष्टव्य न्यायदर्शन २।२।६१।। यहां साहचर्यादि १० कारण उदाहरण सहित व्याख्यात हैं।

ऋग्वेद का अध्ययन किया जाता है, यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है, साम-वेद का अध्ययन किया जाता है। ऋक्, यजुः और साम संहिताओं की वेदसंज्ञा के लिये आज तक किसी ने भी प्रयत्न नहीं किया। ब्राह्मणग्रन्थों वा उपनिषद् ग्रन्थों के अध्ययन के लिये **ब्राह्मण का अध्ययन किया जाता है, उपनिषद् का अध्ययन किया जाता है,** इस प्रकार सामान्य रूप से अथवा **ऐतरेय का अध्ययन** किया जाता है,**बृहदारण्यक का अध्ययन** किया जाता है,इस प्रकार नामनिर्देशपुरःसर कथन किया जाता है। इनके लिये कोई भी यह नहीं कहता कि ऋग्वेद का अध्ययन करता हूं, यजुर्वेद का अध्ययन करता हूं। ब्राह्मणग्रन्थों के वेदत्व के ज्ञापन के लिये **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** ऐसे अनेक सूत्र प्राचीन ग्रन्थकारों ने बनाये हैं। इस प्रकार के सूत्रों का प्रयोजन विचारणीय है।

यदि यह कहा जाये कि 'ब्राह्मणों के साथ मन्त्रों का भी वेदत्व कहना इसका प्रयोजन है, केवल ब्राह्मणों का नहीं', यह सम्भव हो सकता है, परन्तु जहां इस परिभाषा की अथवा विशेष सज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होती, वहां वेद शब्द से मन्त्रों का ही ग्रहण होने और ब्राह्मणों का ग्रहण न होने से जाना जाता है कि वेद पद का स्वाभाविक अर्थात् मुख्य अर्थ मन्त्र ही है,न कि ब्राह्मण भी। इसमें निम्न कारण हैं—

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा कल्प-सूत्रकारों ने कही है। कल्प-सूत्रकारोक्त वेद संज्ञा को ब्राह्मणग्रन्थों में प्रवृत्त नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों में काल की भिन्नता और स्थिति की भिन्नता है।[1] इसलिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में

---

१. पाश्चात्य मतानुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्पसूत्रों के प्रवचनकाल में भेद है। ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन पौर्वकालिक है और कल्पसूत्रों का आपरकालिक। उत्तरकाल में विरचित नियम पूर्वकाल के ग्रन्थों में व्यवहृत नहीं हो सकते। अतः ब्राह्मण-वचनों में जहां जहां वेद शब्द आया है, वहां-वहां वेद के अन्तर्गत ब्राह्मणों का समावेश नहीं हो सकता। जो **मध्यकालीन भारतीय वैदिक** ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी मन्त्रों के समान अपौरुषेय मानते हैं, उनके मत

जहां कहीं वेद शब्द उपलब्ध होता है, वहां यह विचारणीय हो जाता है कि उसका क्या अर्थ है, अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थों में पठित 'वेद' शब्द केवल मन्त्र का ही बोधक है, अथवा मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का। इसके निश्चय के लिये हम कतिपय-ब्राह्मण वचन उद्धृत करते हैं —

तानि ज्योतींष्यभ्यतपन्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्......स ऋचैव होत्रमकरोत् यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथमिति। ऐ० ब्रा० ५।३२॥

यहां उपक्रम में वेद शब्द का प्रयोग है और उपसंहार में ऋक् यजुः और साम शब्दों का। ऋक् यजः साम मन्त्रों के ही वाचक हैं[1] यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। उपक्रम और उपसंहार में एकवाक्यता होनी चाहिये। इसलिये उपक्रम में प्रयुक्त वेदरूपी विशिष्ट शब्द भी मन्त्रों के ही वाचक हो सकते हैं। ब्राह्मणों का भी उनमें अन्तर्भाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहां यह भी ध्यान रहे कि यज्ञों में मन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मण-वचनों का प्रयोग नहीं होता।[2] अतः **स ऋचव होत्रमकरोत्** इत्यादि ऋक् यजुः साम का अभिप्राय तत्तत्संज्ञक मन्त्रों से ही है, न कि ब्राह्मण-वचनों से भी।

में ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्पसूत्रों में **काल-वैषम्य** और **स्थिति-वैषम्य** दोनों है। क्योंकि कल्पसूत्र पौरुषेय हैं, यह मीमांसाशास्त्र प्रतिपादित सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

१. द्रष्टव्य—**यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः।** मीमांसा २।१।३५, ३६, ३८॥

२. '**विनियोजकं ब्राह्मणं भवति**' (द्र०—तै० सं० भट्टभास्कर-भाष्य, भाग १, पृष्ठ ३, मैसूर सं०) इस याज्ञिकलक्षणानुसार ब्राह्मण मन्त्रों के तत्तत्कर्मों में विनियोगमात्र दर्शाते हैं। विनियोग से शेष ब्राह्मणवचन अर्थवाद कहाते हैं। अर्थवाद स्तुति आदि के द्वारा विधिवाक्य से ही सम्बद्ध होते हैं। यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

इसी अर्थ को सुदृढ़ करने के लिये मीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामी द्वारा उद्धृत निम्न ब्राह्मण-वचन भी द्रष्टव्य है—

तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद……….। उच्चैर्ऋचा क्रियत उच्चैः साम्नोपांशु यजुषा इति। द्र०—शाबरभाष्य मी० ३।३।२॥

यहां पर भी उपक्रम में वेद विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हैं और उपसंहार में केवल ऋक् यजुः और साम शब्द। परन्तु यहां पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ऋक् यजुः और साम का जो उच्चैस्त्व और उपांशुत्व धर्म बताया है, वह उन-उन वेदों में पठित मन्त्रों का ही है, न कि उन वेदों के ब्राह्मण-वचनों का भी, यह सर्वसम्मत राद्धान्त है। इसलिये इस प्रकार के वचनों में, ब्राह्मण-ग्रन्थों का वेदत्व स्वीकार करनेवाले याज्ञिक भी यहां वेदशब्द का प्रयोग होने पर भी ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं मानते।[1]

इस प्रकार ब्राह्मणवचनों में श्रूयमाण वेद शब्द मन्त्रों का ही वाचक है, यह सिद्ध होता है। मन्त्रों की वेदसंज्ञा का विधायक कोई भी वचन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि वेदशब्द का मुख्य अर्थ मन्त्र

---

१. यद्यपि उपसंहार के अनुरोध से उपक्रम में अर्थ का संकोच किया जाता है, ऐसा कोई कह सकते हैं, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त वेद शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी ग्रहण होता है, इस में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी अवस्था में अर्थसंकोच की कथा ही उत्पन्न नहीं होती (इस प्रकार के वचनों से 'ब्राह्मण-ग्रन्थ भी अपौरुषेय है' यह मत भी ठीक नहीं ठहरता)। यदि दुर्जनसन्तोषन्याय से उपक्रम में प्रयुक्त ऋग्वेदादि पदों में उपसंहार के अनुरोध से अर्थसंकोच माना जाये, तो उपक्रम में प्रयुक्त ऋग्वेदादि पदों से मन्त्ररूप अर्थ के ही ग्रहण होने पर मन्त्रों की अग्नि आदि से उत्पत्ति अथवा प्रकाशन कहा जायेगा, न कि ब्राह्मणों का भी। इस प्रकार इन प्रमाणों से ब्राह्मणग्रन्थों का अपौरुषेयत्व भी उपपन्न नहीं होता।

ही है, न कि ब्राह्मण भी। कल्पसूत्रकारों ने अपने-अपने शास्त्रों के कार्य के निर्वाहार्थ जैसे अन्य अनेक विशिष्ट पारिभाषिक संज्ञाएं बनाई हैं, वैसे ही उनकी यह 'वेद' संज्ञा भी पारिभाषिक है। **पारिभाषिक अर्थ कभी मुख्य (= स्वाभाविक) नहीं माना जाता**, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा करना व्यर्थ होता है। इस प्रकार मन्त्रों की ही मुख्य वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणों की नहीं, यह अर्थ सिद्ध है।

अब हम उक्त मत अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थान्तर्गत वेदशब्द मन्त्र का ही वाचक है, के विषय में आचार्य शङ्कर का वचन उद्धृत करते हैं। आचार्य शङ्कर ने —'**एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्**' आदि बृहदारण्यक उपनिषद् २।५।१० की व्याख्या करते हुये लिखा है—'**यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्**।'

यहां आचार्य शङ्कर ने वेद-पद-घटित ऋग्वेदादि का अर्थ 'चतुर्विधं मन्त्रजातम्' लिख कर स्पष्ट कर दिया कि ब्राह्मणगत वेदविशिष्ट ऋगादि पदों का अर्थ केवल मन्त्र है। वहां ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं होता। अब इसी बात की दृढ़ता के लिये "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" इस सूत्र की विशेष विवेचना करते हैं—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—सूत्र पर विचार

जो वैदिक विद्वान् मन्त्रों के समान ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद मानते हैं, उनका प्रधान आधार श्रौतकारों का "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" यह प्रसिद्ध सूत्र है। इसलिये इसी सूत्र को आधार बनाकर विचार किया जायेगा, कि क्या इस सूत्र से मन्त्रों के समान ब्राह्मणग्रन्थों की भी मुख्य वेदसंज्ञा सिद्ध हो सकती है वा नहीं। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' यह विचार्यमाण सूत्र किन-किन आचार्यों ने अपने श्रौतसूत्रों में पढ़ा है, और किन-किन ने नहीं पढ़ा। तथा जिन्होंने उक्त सूत्र पढ़ा है, उनके पढ़ने का क्या अभिप्राय है?

केवल कृष्ण याजुष श्रौतसूत्रों में—**'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** यह सूत्र केवल कृष्णयजु:[1] शाखाओं के आपस्तम्ब सत्याषाढ बोधायनादि श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के शाङ्खायन और आश्वलायन, शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन,[2] तथा सामवेद के द्राह्यायण और लाट्यायन श्रौतसूत्रों में उक्त सूत्र या इस अर्थ का वचनान्तर नहीं मिलता। इससे सन्देह होता है कि क्या कारण है कि उक्त सूत्र कृष्णयजु: शाखाओं के ही श्रौतसूत्रों में ही मिलता है, ऋग्वेद शुक्लयजु: तथा सामवेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों में उपलब्ध नहीं होता ? **इस विषमता का कोई कारण अवश्य होना चाहिये।**

विषमता का कारण—हमारी समझ में उक्त विषमता का कारण यह है कि ऋक् शुक्ल-यजु:[3] और साम की संहिताओं में केवल मन्त्र ही हैं, ब्राह्मण

---

१. यजुर्वेद की विभिन्न शाखाएं शुक्ल और कृष्ण नाम से क्यों व्यवहृत होती है, इस विषय के लिये देखें—**'यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेकः'** निबन्ध। द्र०—हमारी 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' पृष्ठ २३१—२३६; हिन्दी में—पृष्ठ २३७—२४०।

२. **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सूत्र कात्यायनीय श्रौतसूत्र में तो नहीं मिलता, परन्तु कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध **प्रतिज्ञा-परिशिष्ट** में उपलब्ध होता है। कात्यायन के नाम से दो **प्रतिज्ञा-परिशिष्ट** हैं। एक—श्रौतसूत्र से सम्बद्ध, और दूसरा—प्रातिशाख्य से सम्बद्ध। उनमें से **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सूत्र **प्रातिशाख्य-संबद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट** में मिलता है, न कि श्रौतसूत से सम्बद्ध में। यहां यह भी ध्यान रहे कि कृष्ण यजुओं के सभी श्रौतसूत्रों में यह सूत्र मिलता है। यदि यह कात्यायन-सम्मत सूत्र होता, तो उसके श्रौतसूत्र में अथवा श्रौतसूत्र-सम्बद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में होता, न कि प्रातिशाख्य सम्बद्ध में। यह विषमता भी ध्यान देने योग्य है। हमारा विचार है कि यह परिशिष्ट अर्वाचीन ग्रन्थ है, कात्यायनमुनि-प्रणीत नहीं है।

३. शुक्ल यजुर्वेद का कात्यायन के नाम से एक जाली सर्वानुक्रमणी-ग्रन्थ

नहीं है। इसके विपरीत कृष्ण-यजुः की समस्त शाखाओं में मन्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मण-वचन भी पठित हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिन संहिताओं में केवल मन्त्र ही पढ़े गये हैं, उनका वेदत्व लोक में प्रसिद्ध था। इसलिये उनके श्रौतसूत्रकारों ने उक्त सूत्र अपने ग्रन्थ में नहीं पढ़ा। और जिन शाखाओं में ब्राह्मण का भी पाठ था, उनका वेदत्व लोकप्रसिद्ध न होने से अपनी शाखाओं का भी वेदत्व-प्रतिपादनार्थ अथवा अपने स्वशास्त्रीय कार्य की सिद्धि के लिये उनके श्रौतसूत्रकारों ने उक्त सूत्र पढ़ा। ऐसी स्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि **मन्त्रों की ही मुख्य रूप से वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणों की नहीं।**

चिरकाल तक आचार्यों ने ब्राह्मणों की वेद संज्ञा नहीं मानी—कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रकारों द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण की वेदसंज्ञा कर देने पर भी चिरकाल तक अनेक प्राचीन आचार्यों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का वेदत्व स्वीकार नहीं किया। इसी बात को ध्यान में रखकर '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' इस आपस्तम्बीय सूत्र की व्याख्या में हरदत्त ने कहा है—'**कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्**' अर्थात् किन्हीं आचार्यों ने केवल मन्त्रों को ही वेद माना है। यही बात हरदत्त से पूर्ववर्ती धूर्तस्वामी ने भी इस सूत्र की व्याख्या में लिखी है। इससे भी सिद्ध होता है कि **प्राचीन आचार्यों को मन्त्रों की ही वेदसंज्ञा अभिप्रेत थी, ब्राह्मणों की नहीं।**

परिभाषा-प्रकरण में पाठ—एक बात और ध्यान देने योग्य है, जिन-जिन श्रौतसूत्रों में "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" सूत्र पढ़ा है, उनमें भी वह उनके परिभाषा-प्रकरण में ही पढ़ा गया है। पारिभाषिक संज्ञाएं तभी रखी जाती

प्रसिद्ध है। उसमें शुक्ल-यजुः के अनेक पाठों को ब्राह्मण माना है। परन्तु यह समस्त प्राचीन परम्परा के विपरीत है। इसकी सप्रमाण विस्तृत मीमांसा हमने 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' के अन्तर्गत छपे **मूल-यजुर्वेद** नामक निबन्ध में की है। द्र०—पृष्ठ २४५—२५६।

हैं, जब कि वे लोकप्रसिद्ध न हों, वा शास्त्रान्तरों में अन्यार्थ में प्रसिद्ध हों। जैसे पाणिनि की **सर्वनामस्थान संज्ञा** अलौकिक, और **गुण संज्ञा** न्याय वैशेषिक में अन्यार्थक है। पारिभाषिक संज्ञाएं अपने-अपने शास्त्र में ही स्वीकार की जाती हैं अन्यत्र नहीं, यह भी लोकप्रसिद्ध है। इसलिये जैसे पाणिनि की गुण संज्ञा उसी के शास्त्र में प्रमाण मानी जाती है, अन्यत्र लोक या न्याय वैशेषिक में गुण का पाणिनीय अर्थ '**अ, ए, ओ**' स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" सूत्र जिन-जिन श्रौतसूत्रों में पढ़ा है, उन्हीं में 'वेद' शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण होगा, अन्यत्र नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों की ही वेदसंज्ञा सर्वसम्मत है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।

तीन वेदों के श्रौतसूत्रों में 'वेद' संज्ञा के अविधान का कारण—ऋग्वेद शुक्लयजुः तथा सामवेद की संहिताओं में मन्त्रों का ही पाठ होने, तथा उनके ब्राह्मणग्रन्थों की सत्ता संहिता से पृथक् होने के कारण वहां सन्देह ही नहीं होता कि **कौनसा मन्त्र है, और कौनसा ब्राह्मण**। इसलिये इन वेदों के श्रौत-सूत्रकारों को **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सदृश सूत्र बनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

कृष्णयाजुष शाखाओं में मन्त्र-ब्राह्मण-भेदक लक्षण—कृष्णयजुः शाखाओं में मन्त्र और ब्राह्मण का साथ-साथ पाठ होने के कारण यह नहीं जाना जाता कि कितना भाग मन्त्र है और कितना ब्राह्मण, इसलिये कृष्णयजुर्वेदीय याज्ञिकों को मन्त्र तथा ब्राह्मण का भेदबोधक लक्षण बनाना पड़ा—

"अनुष्ठीयमानकर्मस्मारकत्वं मन्त्रत्वं, विनियोजकं च ब्राह्मणम्।"

अर्थात्—'अनुष्ठान किये जा रहे कार्यों का स्मरण करानेवाला मन्त्र, तथा यज्ञ में द्रव्यदेवता आदि का विनियोग दर्शानेवाला ब्राह्मण होता है।

मन्त्र-ब्राह्मण के उक्त लक्षण में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोष—याज्ञिकों द्वारा पूर्वनिर्दिशित मन्त्र और ब्राह्मण का भेदबोधक लक्षण अव्याप्ति-अति-व्याप्ति दोषों से दूषित है। यथा—

अव्याप्ति दोष—याज्ञिकशिरोमणि मीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामी ने २४ वें अध्याय के अन्तर्गत **'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'** वचन पर विचार करते हुये मन्त्रलक्षण अधिकरण (मी० २।१।३२, अधि० ७) में लिखा है—

कथंलक्षणो मन्त्र इति ? तच्चोदकेषु मन्त्राख्या । अभिधानस्य चोदकेष्वेवञ्जातीयकेषु अभियुक्ता उपदिशन्ति—'मन्त्रानधीमहे, मन्त्रानध्यापयामः, मन्त्रा वर्तन्ते' इति । प्रायिकमिदं लक्षणम् । अनभिधायका अपि केचिन्मन्त्रा इत्युच्यन्ते । यथा—वसन्ताय कपिञ्जलानालभत इति (मा० सं० २४। २०) ।

प्र०—मन्त्र किसको कहते हैं ? उ०—जो वचन यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को कहने वाले हैं, उन्हीं में अभियुक्त=प्रामाणिक पुरुष 'मन्त्रों को पढ़ते हैं, मन्त्रों को पढ़ाते हैं, मन्त्र बोले जा रहे हैं' आदि व्यवहार करते हैं। वस्तुतः मन्त्र का यह [सूत्रोक्त] लक्षण प्रायिक है [अर्थात् सर्वत्र नहीं घटता] । कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को कहनेवाले नहीं, परन्तु मन्त्र कहे जाते हैं । यथा—**'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'** (यजुः २४।२०) ।

शबरस्वामी के इस मत को मानकर समस्त अर्वाचीन मीमांसकों ने **"जिन बचनों को प्रामाणिक पुरुष मन्त्र कहें, वह मन्त्र हैं"** ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया है । इससे स्पष्ट है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन समस्त मीमांसकों के मत में न केवल **"वसन्ताय कपिञ्जलानालभते"** इसी वाक्य की मन्त्र संज्ञा है, अपितु इसी प्रकार के २४ वें अध्याय में पठित समस्त द्रव्यदेवताविधायक वाक्य मन्त्र हैं ।

मीमांसकों के अनुसार **'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'** वाक्य मन्त्रसंज्ञक है, यह शबरस्वामी के उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है । याज्ञिकों के उक्त लक्षणानुसार इस वाक्य में मन्त्रत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह वाक्य यज्ञ में क्रियमाण किसी कर्म का स्मारक नहीं है । अतः इस अंश में अव्याप्ति दोष है ।

अतिव्याप्ति दोष—ब्राह्मण-बोधक **विनियोजकं ब्राह्मणम्** लक्षण के अनुसार द्रव्यदेवता का विधायक होने से मीमांसकों द्वारा मन्त्ररूप से स्वीकृत **'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'** मे ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है। अतः इस अंश में अतिव्याप्ति दोष है। इसलिये याज्ञिकों के मन्त्र और ब्राह्मण के भेदबोधक उक्त लक्षण अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों से दूषित हैं, यह स्पष्ट है।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र की मीमांसा का सार—हमने इस सूत्र पर विविध पहलुओं से जो विचार किया है, तदनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेद संज्ञा न होने में निम्न हेतु हैं—

मन्त्र-ब्राह्मण की वेद-संज्ञा विषय का उपसंहार—हमने **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्** सूत्र पर जो विचार किया है, उससे स्पष्ट है कि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों के मत में ब्राह्मण-वचनों की वेद संज्ञा नहीं है। इस विषय में निम्न हेतु हैं—

१—मन्त्रात्मक शाकल, वाजसनेय तथा कौथुमादि संहिताओं के श्रौतसूत्र-कारों द्वारा **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** वचन का निर्देश न होने से।

२—मन्त्र ब्राह्मण से सम्मिश्रित कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं के आप-स्तम्बादि श्रौतसूत्रकारों द्वारा ही इस सूत्र की रचना होने से।

३—उन-उन श्रौतसूत्रों में भी उक्त वचन का निर्देश **परिभाषा-प्रकरण में ही होने से।**

४—उक्त सूत्र की व्याख्या में हरदत्त तथा धूर्तस्वामी द्वारा स्पष्ट शब्दों में **'केश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम् (आश्रितम्)'** अर्थात्—'किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने केवल मन्त्र को ही वेद माना है' लिखा होने से **प्राचीन प्रमाणभूत आचार्यों के मत में मन्त्रों का ही मुख्य वेदत्व है, ब्राह्मणों का नहीं, यह सु-निश्चित हो जाता है।**

कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूतकारों ने परिभाषा-प्रकरण में ब्राह्मणग्रन्थों की जो

पारिभाषिक वेदसंज्ञा कही है, उसका यही प्रयोजन है कि उनके शास्त्र में वेद शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण समझा जावे। जैसे पाणिनीय कृत्रिम गुणादि संज्ञाएं उनके शास्त्र में प्रमाण नहीं मानी जातीं। **यह पक्ष हमें भी स्वीकार है।** अर्थात् हम भी यह मानते हैं कि जिन श्रौतसूत्रों में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र पढ़ा है, उनमें 'वेद' शब्द से ब्राह्मणवचनों का भी ग्रहण करना चाहिये।

अन्वय-व्यतिरेक हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का अवेदत्व—अन्वय-व्यतिरेक हेतु से भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का वेदत्व सिद्ध नहीं होता। यदि आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रों के रचनाकाल में ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी वेदत्व लोकप्रसिद्ध होता, तो कृष्णयजुः के आपस्तम्बादि श्रौत्रसूत्र के रचयिता भी ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकारों के समान उक्त वचन न पढ़ते। अथवा मन्त्रों के समान ब्राह्मण का वेदत्व प्रसिद्ध होने पर भी जैसे कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों ने लोकप्रसिद्धि की पुष्टि के लिये उक्त सूत्र रचा, तद्वत् ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकार भी उक्त सूत्र का निर्देश करते। परन्तु ऐसा नहीं दीखता (अर्थात् मन्त्रब्राह्मण-संमिश्रित कृष्णयजुः के श्रौतसूत्रकारों ने ही उक्त सूत्र पढ़ा है, केवल मन्त्रात्मक ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद और सामवेद के श्रौतसूत्रकारों ने इस प्रकार का कोई वचन नहीं बनाया)। इससे भी विस्पष्ट है कि मन्त्रों का ही वेदत्व प्राचीन आचार्यों को भी अभिप्रेत है। ब्राह्मणों उनके शेषभूत आरण्यकों तथा तदन्तर्गत उपनिषदों का मुख्य वेदत्व उन्हें इष्ट नहीं है।

उक्त सिद्धान्त के निश्चित हो जाने पर स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रादि याज्ञिक ग्रन्थों से भिन्न अयाज्ञिक ग्रन्थों में जो वेद शब्द से ब्राह्मणग्रन्थों का निर्देश मिलता है, वह उन ग्रन्थकारों ने उक्त याज्ञिक मत को स्वीकार करके किया होगा। अथवा मन्त्रव्याख्याभूत ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थ (=वेद) का औपचारिक (=गौण) रूप से प्रयोग किया होगा। व्याख्यान-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थ का उपचार प्रायः लोक में देखा जाता है।

अब हम वेद-संज्ञा-विषयक एक अन्य लक्षण पर विचार करते हैं—

वेद-संज्ञा-विषयक एक अन्य लक्षण पर विचार

नवम्बर सन् १९६४ की १२ से १८ तिथियों में अमृतसर नगर में स्वामी करपात्री जी के तत्त्वावधान, और पुरी के शांकर पीठ के आचार्य स्वामी निरञ्जन देव जी के सभापतित्व में **सर्ववेदशाखा-सम्मेलन** का आयोजन हुआ था। उसमें ता० १६-१७-१८ तक 'वेद में विज्ञान है वा नहीं', तथा 'ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेदसंज्ञा है वा नहीं', इन दो विषयों पर शास्त्रचर्चा हुई थी। इसमें सनातनधर्मावलम्बी विद्वानों और महात्माओं का पक्ष था—"वेद में विज्ञान नहीं, और ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेदसंज्ञा है।" इसके विरोध में मेरा पक्ष था—"वेद में विज्ञान का ही प्राधान्येन प्रतिपादन है, और मन्त्रसंहिताओं की वेद-संज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है।" इस शास्त्रचर्चा में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र पर तो विचार हुआ ही था, पर मेरे आक्षेपों का उत्तर न दे सकने पर वेदसंज्ञा-विषयक एक लक्षण प्रस्तुत किया गया। उसे भी हम यहां उद्धृत करके उसकी मीमांसा करते हैं—

कुछ विद्वान् ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा सिद्ध करने के लिये वेद का निम्न लक्षण उपस्थित करते हैं—

'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वेदत्वम् इति'।

अर्थात्— पठनपाठनरूप गुरुशिष्य-सम्प्रदाय के विच्छिन्न न होने पर भी जिसके रचयिता का ज्ञान न हो, वह 'वेद' कहाता है।

इस लक्षण के अनुसार वादी ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेदसंज्ञा मानता है। क्योंकि जैसे मन्त्रसंहिताओं के पठनपाठन-सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी उनके रचयिता का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के पठनपाठन-रूप-सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी उनके रचयिता का नाम अज्ञात है। यदि कोई कहे कि ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिताओं के ऐतरेय याज्ञवल्क्य आदि नाम ज्ञात हैं, तो वादी कहता है कि ये रचयिताओं के नाम नहीं हैं,

अपितु प्रवक्ताओं के नाम हैं। जैसे ऋग्वेदसंहिता का शाकल-संहिता नाम आचार्य के प्रवचन के कारण पड़ा, न कि रचयिता होने के कारण। इसी शाकल्य प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के नामों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

उक्त लक्षण का खण्डन

वस्तुतः उक्त वेदलक्षण से भी ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि उक्त लक्षण अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दोष से दूषित है। यथा—

अतिव्याप्तिदोष—वैदिक-वाङ्मय में ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनके पठनपाठन का उच्छेद तो नहीं हुआ, पुनरपि उनके रचयिताओं का नाम ज्ञात नहीं है। यथा माध्यन्दिन संहिता का पद-पाठ। इस लक्षण के अनुसार ऐसे अज्ञातनामवाले पौरुषेय पद-ग्रन्थ की भी अपौरुषेयत्वरूप वेदसंज्ञा प्राप्त होती है, जो कि इष्ट नहीं। समस्त पदपाठ-संज्ञक ग्रन्थ पौरुषेय हैं, इसमें सभी प्रामाणिक आचार्य एकमत हैं। पुनरपि पदपाठ के पौरुषेयत्व-ज्ञापन के लिये तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—'वा' इति च 'य' इति च चकार शाकल्यः। **उदात्तं त्वेवमाख्यातम-भविष्यद् असुसमाप्तश्चार्थः।** निरुक्त ६।२८।।

निरुक्तकार यास्क ने **वनेनवायोन्यधायि०** (ऋ० १०।२६।१) मन्त्र में पठित **'वायः'** को एक पद मानकर व्याख्या करके लिखा है कि—शाकल्य ने **वायः** में **वा यः** ऐसा दो पदरूप विभाग किया है, वह अयुक्त है। क्योंकि **यः** पद का प्रयोग होने पर **अधायि** क्रिया को उदात्त होना चाहिये। क्योंकि यत् शब्द के योग में पद से परे भी क्रियापद अनुदात्त नहीं होता। द्रष्टव्य—**यद्वृत्तान्नित्यम्** (अष्टा० ८।१।६६) स्वर-लक्षण।

यहां यास्क ने स्पष्टरूप में ऋग्वेद के पदपाठ को शाकल्यकृत अर्थात् पौरुषेय कहा है, और उसमें दोष दर्शाया है।

२—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। महाभाष्य ३, १, १०६; ६, १, २०७; ८, २, १६।

अर्थात्—लक्षणों (व्याकरण के नियमों) को पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिये (उनके पीछे नहीं चलना चाहिये), अपितु पदकारों को लक्षणों (व्याकरण के नियमों) का अनुसरण करना चाहिये।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने यह वचन ऐसे तीन स्थानों पर पढ़ा है, जहां पाणिनीय लक्षणों और पदकारों के पदविच्छेद में विरोध उपस्थित होता है। इस वचन से महाभाष्यकार के मत में पदपाठ पौरुषेय है, यह स्पष्ट है।

३—महाभाष्यकार के उक्त वचन की व्याख्या करता हुआ आचार्य कैयट (३।१।१०६ में) स्पष्ट लिखता है—

न लक्षणेनेति—संहिताया एव नित्यत्वं, पदच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम् इति।

अर्थात्—मन्त्रसंहिता ही नित्य अपौरुषेय है, पदपाठ पौरुषेय अर्थात् अनित्य है।

अव्याप्तिदोष—उक्त वेदलक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। जिन-ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों की वादी इस लक्षण से वेदसंज्ञा सिद्ध करना चाहता है, उनमें से अनेक ब्राह्मणग्रन्थों की उक्त लक्षणानुसार वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं होती। इसका कारण यह है कि ऐतरेय आदि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों के सम्प्रदाय का विच्छेद हो चुका है। इसमें प्रमाण यह है कि ऐतरेय आदि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों में सम्प्रति स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते। प्राचीनकाल में सभी ब्राह्मणग्रन्थ सस्वर थे। ऐसी अवस्था में सस्वर ब्राह्मणग्रन्थों से स्वरों का नाश पठनपाठन-सम्प्रदाय के विच्छिन्न होने पर ही उपपन्न हो सकता है। अन्यथा स्वरनाश का और कोई कारण नहीं माना जा सकता। यतः ऐतरेय आदि कतिपय-ब्राह्मणों में स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते, अतः इनके पठन-पाठनरूप सम्प्रदाय का उच्छेद हुआ है, यह स्पष्ट है। पठनपाठनसम्प्रदाय के उच्छेद होने पर स्वररहित ब्राह्मणग्रन्थों

की वेदसंज्ञा (=जो वादी को अभिमत है) उक्त लक्षणानुसार उपपन्न नहीं हो सकती।

ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थ पुराकाल में सस्वर थे। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—पाणिनीय व्याकरण से ज्ञात होता है कि पुराकाल में वैदिकी वाक् के समान लौकिक भाषा भी सस्वर व्यवहृत होती थी। इसमें हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

क—दत्त और गुप्तसंज्ञक व्यक्तियों द्वारा व्यास नदी के उत्तर तट पर बनाये कूपों के लिये दात्त गौप्त शब्दों में आद्युदात्त स्वर का प्रयोग बतलाने के लिये पाणिनि ने **उदक् च विपाशः** (४।२।७३) सूत्र द्वारा **अञ्** प्रत्यय का विधान किया है। इसी विशेष विधान से व्यास के दक्षिण किनारे पर दत्त गुप्त द्वारा निर्मित कूपों के लिये अन्तोदात्त दात्त गौप्त पद प्रयुक्त होते थे, यह ज्ञापित होता है। इसी दृष्टि से काशिकाकार ने लिखा है—

'उदगिति किम्—दक्षिणतो विपाशः कूपेष्वणेव दात्तः गौप्तः, स्वरे विशेषः। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य ॥'

अर्थात्—विपाशा के दक्षिण कूपों के लिये व्यवहृत दात्त गौप्त शब्दों में **अण्** प्रत्यय ही होगा। दोनों में स्वर का भेद है। सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है, उसने स्वरभेद की भी उपेक्षा नहीं की।

ख—**पञ्चभिः सप्तभिः** आदि पदों में वेद में विभक्ति से पूर्ववर्ती स्वर (अच्) उदात्त होता है। परन्तु लौकिक भाषा में कभी विभक्ति में भी उदात्तत्व देखा जाता है। तो कभी उससे पूर्ववर्ती अच् में। अतः पाणिनि ने लौकिक भाषा में उपलब्ध होने वाले स्वरभेद को दर्शाने के लिये **विभाषा भाषायाम्** (६।१।१८१) यह विशेष सूत्र बनाया।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में लोकभाषा भी

वैदिकी वाक् के समान सस्वर थी। अनेक लौकिक भाषा के ग्रन्थ मनुस्मृति वा यास्कीय निरुक्त के सस्वर होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[1] जब लौकिक भाषा और लौकिक ग्रन्थ भी सस्वर थे, तब ब्राह्मणग्रन्थों के सस्वर न होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का स्वरविरहित प्रवचन नहीं हो सकता था।

२—मीमांस सूत्रकार जैमिनि ने **कल्पसूत्राधिकरण** में 'कल्पसूत्र' आम्नाय के समान प्रमाण नहीं है, इसके लिये हेतु दिया है—**नासन्नियमात्** (१।३।१२)। अर्थात् कल्पसूत्रों की रचना आम्नाय के समान निबद्ध नहीं है। शबरस्वामी ने **असन्नियमात्** हेतु का अर्थ करते हुये लिखा है—'**नैतत् सम्यङ् निबन्धनम्, स्वराभावात्**।' अर्थात् कल्पसूत्रों की रचना सम्यक् निबद्ध नहीं है,क्योंकि उसमें स्वरनिर्देश नहीं है। समस्त सूत्रग्रन्थ एकश्रुतिरूप से पढ़े गये हैं, यह समस्त प्राचीन आचार्यों का मत है[2]।

जैमिनि के इस सूत्र से भी स्पष्ट है कि ऐतरेयादि सभी ब्राह्मण पुराकाल में सस्वर थे। अतः वर्तमान में अधिकांश ब्राह्मणों में स्वर का अभाव होना, उनके सम्प्रदाय-विच्छेद का ही द्योतक है।

इतने पर भी यदि कोई यही हठ करे कि ऐतरेय आदि ब्राह्मण आदिकाल से स्वररहित ही थे, उस अवस्था में जैमिनि के उक्त सूत्र के अनुसार **स्वर-रहित कल्पसूत्रों का जैसे आम्नायवत् प्रामाण्य नहीं, उसी प्रकार स्वररहित ब्राह्मणग्रन्थों का भी प्रामाण्य नहीं होगा**। दोनों में से एक बात अवश्य स्वीकार करनी होगी। दोनों में से किसी भी एक बात को स्वीकार करने पर

---

१. द्रष्टव्य—वैदिक-स्वर-मीमांसा, पृष्ठ ४७-४८ (द्वि० सं०)।

२. तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्॥ प्रतिज्ञा-परिशिष्ट (यजुःप्रातिशाख्य सम्बद्ध) ३।३८॥

वादी के मतानुसार स्वररहित ब्राह्मणों का वेदत्व, अथवा तद्वत् प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता।

एक ब्राह्मण-वचन पर विशेषविचार

ब्राह्मणग्रन्थों में जहां 'वेद' शब्द का व्यवहार मिलता है, वहां 'वेद' शब्द से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण नहीं होता है। इसकी सिद्धि के लिये हम गोपथ-ब्राह्मण पूर्वार्ध २।१० के निम्न वचन पर भी विचार करना आवश्यक समझते हैं—

'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सपुराणाः······।।'

इस ब्राह्मणवचन में वेदों को कल्प, रहस्य (=आरण्यक), ब्राह्मण, उपनिषत्, इतिहास और पुराण से स्पष्ट रूप से पृथक् कहा गया गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों को वेद माननेवाले विद्वान् ऐसे वचनों की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों के वेदान्तर्गत होने पर भी इनका पृथक् निर्देश ब्राह्मणग्रन्थों के मुख्यत्व के ज्ञापन के लिये है। जैसे—**ब्राह्मणा आयाताः, वसिष्ठोऽप्यायातः** वाक्य में वसिष्ठ के ब्राह्मण होने पर भी पृथक् निर्देश करना अन्य ब्राह्मणों से वसिष्ठ का वैशिष्ट्य दर्शाने के लिये है। इस न्याय को **ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय** कहा जाता है। वस्तुतः यहां ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय का लगाना, और ब्राह्मणों का मन्त्रों से वैशिष्ट्य दर्शाना दोनों ही बातें अयुक्त हैं। कारण—

१—'ब्राह्मणवसिष्ठ' न्याय की प्रवृत्ति वहां होती है, जहां वक्ता के समान श्रोता को भी यह ज्ञात हो कि यहां स्मर्यमाण वसिष्ठ नामक व्यक्ति भी ब्राह्मण है। यदि श्रोता को यह ज्ञात ही नहीं कि वसिष्ठ ब्राह्मण है, तब वह ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं कर सकता। और उसके अभाव में वसिष्ठ का श्रेष्ठत्व भी नहीं समझ सकता। इतना ही नहीं, यदि

उक्त वाक्य में स्पर्यमाण वसिष्ठ नामक व्यक्ति ब्राह्मणेतर हो, और यह बात श्रोता को भी ज्ञात हो, तब भी इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती।

इस नियम की प्रवृत्ति तभी होगी, जब पहले से यह ज्ञात हो कि ब्राह्मण-ग्रन्थ भी वेदरूप से स्वीकृत हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद हैं। श्रौतसूत्रों द्वारा की गई मन्त्रब्राह्मण की वेदसंज्ञा की ब्राह्मणग्रन्थों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह हम इसी लेख के आरम्भ (पृष्ठ ३२-३३) में कह चुके हैं। इसलिये गोपथ के उक्त वचन में जब ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, तब उसके आधार पर मन्त्रों से ब्राह्मणग्रन्थों के वैशिष्ट्य का ज्ञापन भला कैसे हो सकता है?

२—उक्त वचन में **सकल्पाः सरहस्याः** आदि पदों के साथ में जो स पद श्रुत है, वह वस्तुतः वेद की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों की हीनता का बोधक है। इस बात को समझने के लिये इन शब्दों के विग्रह पर ध्यान देना चाहिये। **सकल्पाः** आदि पद उक्त वाक्य में वेदाः के विशेषण हैं। **जैसे—सच्छात्रो गुरुरागतः, सपुत्रः पिता** आदि में **सच्छात्रः** और **सपुत्रः** समस्तपद क्रमशः गुरु और पिता के विशेषण हैं। अतः इनका विग्रह **'छात्रेण सह गुरुः'** **'पुत्रेण सह पिता'** के समान **कल्पैः सह सकल्पाः, रहस्यैः सह सरहस्याः, ब्राह्मणैः सह सब्राह्मणाः'** ही होगा। ऐसी अवस्था में **'सहयुक्तेऽप्रधाने'** (अष्टा० २।३।१९) इस तृतीया-विधायक सूत्र से कल्प रहस्य ब्राह्मणादि का वेद की अपेक्षा अप्राधान्य ही व्यक्त होता है, न कि वैशिष्ट्य। इस नियम से ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व मन्त्रों की अपेक्षा अल्प ही सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में मन्त्र और ब्राह्मण समान नहीं हैं, यह इस ब्राह्मण-वचन से भी स्पष्ट हो जाता है।

३—इसके साथ ही उक्त वचन में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह है—**'सकल्पाः सेतिहासाः सपुराणाः'** पदों में कल्पसूत्र इतिहास और पुराणग्रन्थों का निर्देश। इन्हें वादी भी पौरुषेय मानता है। उस मत में ब्राह्मण-ग्रन्थ अपौरुषेय हैं। तब भला अपौरुषेय ब्राह्मण-वाक्य में इन पौरुषेय ग्रन्थों का

निर्देश कैसे हो सकता है ? इतना ही नहीं, यदि वादी के मतानुसार ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय का उक्त वचन में प्रयोग करें, तो ब्राह्मणग्रन्थों के समान पौरुषेय कल्पसूत्र इतिहास और पुराण ग्रन्थों की भी मन्त्रों से अधिक महत्ता सिद्ध होगी, जो कि किसी भी समझदार आस्तिक को स्वीकृत नहीं हो सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद नहीं है। मीमांसाशास्त्र के वेदापौरुषेयत्व-प्रकरण में वेद शब्द केवल मन्त्रसंहिता में ही भगवान् जैमिनि ने प्रयुक्त किया है, न कि मन्त्रब्राह्मणात्मक-समुदाय में। इसकी विस्तृत मीमांसा हमने शाबरभाष्य के वेदापौरुषेयत्व-प्रकरण के अन्त में पृष्ठ १०२ से १२७ (प्र० स०) तक की है। पाठक इस प्रकरण पर गम्भीरता से विचार करें। इस प्रकरण में मीमांसाशास्त्र में जिन-जिन सूत्रों में वेद शब्द का प्रयोग मिलता है, उन सब सूत्रों की भी विवेचना की है।

श्रुति-संज्ञा-विचार

अब हम श्रुति शब्द पर विचार करते हैं।'श्रुति'शब्द भी वेद शब्द के समान विवादास्पद है। इसके साथ ही जैसे ब्राह्मणग्रन्थों के लिये पारिभाषिक वेदसंज्ञा का विधान उपलब्ध होता है, उस प्रकार श्रुतिसंज्ञा की कोई पारिभाषिक-संज्ञा उपलब्ध नहीं होती है।

श्रुति शब्द अनेकार्थक—श्रुति शब्द **श्रु श्रवणे** धातु से भाव कर्म और करण कारक में **स्त्रियां क्तिन्** (अष्टा० ३।३।९४) से **क्तिन्** प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। तदनुसार **श्रवणं श्रुतिः** का अर्थ है—**सुनना**। **श्रूयत इति श्रुतिः** का अर्थ है—जो कान से सुना जाये, अर्थात्—**ध्वनि**। **श्रूयतेऽनया सा श्रुतिः** का अर्थ है—जिससे अर्थ को सुना जाये, अर्थात् जाना जाये। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द वाक्य वा ग्रन्थमात्र अर्थ साधारणतः जाना जाता है। परन्तु वैदिक-वाङ्मय में यह शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। तद-

नुसार मन्त्र और ब्राह्मण-वचन दोनों का ही 'श्रुति' शब्द से व्यवहार देखा जाता है। मनुस्मृति में प्रयुक्त निम्न प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

१—श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ २।१५॥

२—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्र तु वै स्मृतिः ॥ २।१०॥

३—श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ॥११।३३॥

४—धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२।१३॥

५—विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥६।२९॥

मनुस्मृति के इन उद्धरणों में 'श्रुति' शब्द निस्सन्देह मन्त्र और ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुआ है। ५वें प्रमाण में उपनिषद् सम्बन्धी श्रुतियों का निर्देश है। उपनिषदों का समावेश भी ब्राह्मणग्रन्थों में ही होता है। तृतीय प्रमाण में उद्धृत अथर्वाङ्गिरसी श्रुति अथर्ववेद से सम्बन्ध रखती है। सम्भव है वहां अथर्ववेद-सम्बद्ध ब्राह्मण का भी ग्रहण होवे।

मनुस्मृति के प्रमाणों पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह धर्मशास्त्र है। धर्मशास्त्र कल्पसूत्रों के अन्तर्गत आते हैं।[1] अतः मनुस्मृति में बहुधा श्रुत 'श्रुति' शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है।

पूर्वमीमांसा शास्त्र के **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्** (३।३।१४) सूत्र में श्रुति का उदाहरण समस्त मीमांसक **ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते** (मै० सं० ३।२।४) उदाहरण देते हैं,

---

१. कल्पसूत्र के तीन विभाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। पाश्चात्य विद्वान् सूत्ररचना का काल पूर्व मानते हैं, और श्लोकरचना का पश्चात्। अतः उन का कथन है कि मनुस्मृति पहले सूत्रबद्ध थी, पीछे से यह

और गार्हपत्यम् शब्द-श्रवण को श्रुति मानते हैं। मीमांसकों के मतानुसार 'श्रुति' शब्द का अर्थ साक्षात् शब्द श्रवण होने पर भी हमारा विचार है कि 'श्रुति' शब्द का अर्थ **श्रूयते सम्बन्धो येन**=जिससे सम्बन्धविशेष का परिज्ञान होवे, वह ब्राह्मण-वाक्य श्रुति कहाता है। वह सम्बन्ध चाहे द्रव्यदेवता का हो, चाहे मन्त्र और कर्म का हो। इस प्रकार 'श्रुति' शब्द विनियोग का पर्याय है।

कर्मकाण्डीय शाखा-ब्राह्मण-सूत्र ग्रन्थों में विनियोजक पदसमुदाय, चाहे वह मन्त्र होवे चाहे ब्राह्मणवचन, सभी 'श्रुति' कहाते हैं। इस अर्थ में हम कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनमें 'श्रुति' शब्द का अर्थ स्पष्ट है। यथा—

१. माध्यन्दिन-संहिता का भाष्यकार उव्वट अ० २४ के आरम्भ में लिखता है—

श्लोकबद्ध हुई। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को यह ज्ञात ही नहीं है कि शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना पहले श्लोकों में ही होती थी। उन्हें भी सूत्र ही कहते थे। गद्यरूप सूत्रों की रचना उत्तरकाल में आरम्भ हुई। इसका मूल प्रयोजन सूत्रों का संक्षेपीकरण था। पाणिनीय अष्टाध्यायी जैसे सूत्रग्रन्थ, जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् सूत्ररचना का आदर्श मानते हैं, में भी पद्यबद्ध सूत्र-सूत्रांश विद्यमान हैं। द्र०—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, (संवत् २०३० का संस्करण)। बाल्मीकि को आदि कवि कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उससे पूर्व कोई पद्य रचे ही नहीं गये। उसका तात्पर्य केवल यह है कि अनुष्टुप् श्लोक पहले शास्त्रीय ग्रन्थों में ही प्रयुक्त होते थे। काव्यों में इनका प्रयोग नहीं होता था। सब से प्रथम काव्य में वाल्मीकि ने अनुष्टुप् श्लोकों का व्यवहार किया। अतः अनुष्टुप् श्लोकबद्ध काव्यकारों में वह आदि कवि है। यह क्रौंचवध-कथा के सूक्ष्म निरीक्षण से विदित हो जाता है। पूर्वकाल में श्लोक शब्द अनुष्टुप्छन्दस्क श्लोकों के लिये ही व्यवहृत होता था।

इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासंबन्धस्याभिधायिनः ।

अर्थात्—यहां से आगे श्रुतिरूप (श्रुतिसमान) मन्त्र हैं, जो अश्वमेध के पशुओं के द्रव्य और देवता सम्बन्ध को कहनेवाले हैं ।

२. शुक्ल यजुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित एवं महायाज्ञिक पं० श्रीधरशास्त्री[1] बारे (नासिक निवासी) ने **ऋग्यजुः परिशिष्ट**[2] की व्याख्या में लिखा है—

ऋग्यजुः परिशिष्ट— **देव सवितरिति तिस्रः प्राक्प्रैषेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्यः** । पृष्ठ ८८ ।

श्रीधर शास्त्री की टीका—**प्राक्प्रैषेभ्यो निगदेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्यः श्रुतिरूपेभ्यो यजुषः प्राक्** ।

अर्थात्—प्रैष-संज्ञक निगद-संज्ञक श्रुतिरूप ब्राह्मणपाठ से पूर्व **देव सवितः** तीन ऋचाएं हैं ।

इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण का **विनियोजकं ब्राह्मणम्**[3] लक्षण जिन मन्त्रों में घटित होता है, उन मन्त्रों को ब्राह्मण या श्रुति शब्द से कहा जाता है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि याज्ञिक-ग्रन्थों में वेदसंज्ञा के समान श्रुति-संज्ञा की परिभाषा न देने पर भी **याज्ञिकों के मत में श्रुति-संज्ञा भी विनियोजक वाक्य की पारिभाषिक-संज्ञा ही है ।**

हमारे विचार में 'श्रुति' शब्द का प्रधान अर्थ गुरु-परम्परा से नियमतः

---

१. ये अब भूलोक में केवल यशःकायशेष (=स्वर्गत हो चुके) हैं । आपके साथ हमारा बहुत मधुर सम्बन्ध था ।

२. यह परिशिष्ट नासिक से प्रकाशित सटीक **दश परिशिष्ट** नामक संग्रह में छपा है ।

३. द्र०—तै० सं० भट्टभास्कर-भाष्य, भाग १, पृष्ठ ३, मैसूर संस्करण ।

अधीयमान मन्त्रों का ही है। परन्तु व्याख्येय-व्याख्यासम्बन्धरूप लक्षणा से इसका प्रयोग ब्राह्मणवचनों के लिये भी होता है।

अब हम मीमांसाशास्त्र में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण **आम्नाय** शब्द के विषय में विचार करते हैं—

आम्नाय-संज्ञा-विचार

'आम्नाय' एक सामान्य संज्ञा है। इसका मन्त्रसंहिता से लेकर मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय, तथा आयुर्वेद धर्मशास्त्र नाटचशास्त्र आदि विषयों के मूलभूत शास्त्र के लिये प्रयोग मिलता है। आम्नाय शब्द से 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'समाम्नाय' शब्द का भी मन्त्रसंहिताओं से लेकर वेदाङ्गों के मूलभूत भाग के लिये प्रयोग देखा जाता है। जैसे—निघण्टु के लिये **समाम्नायः समाम्नातः** (निरुक्त १।१), तथा प्रत्याहारसूत्रों के लिये **अक्षरसमाम्नाय** आदि। अब हम **आम्नाय** शब्द के विविध ग्रन्थों के लिये कतिपय प्रयोग दिखाते हैं—

१—**मन्त्रब्राह्मण के लिये**—जिस प्रकार कृष्णयजुः के श्रौतसूत्रकारों ने ब्राह्मण की वेदसंज्ञा के लिये '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' यह परिभाषासूत्र बनाया, उसी प्रकार कौशिकसूत्र (१।३) में मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय की 'आम्नाय' संज्ञा के लिये एक सूत्र पढ़ा गया - **आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च।**

२— **आयुर्वेद के मूल आगम के लिये**—आयुर्वेदिक चरक-संहिता के सूत्र-स्थान अ० ३०, खण्ड ६७ पृच्छातन्त्राद् **यथाम्नायविधिना प्रश्न उच्यते** वचन में 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग आयुर्वेदविषयक मूल आगम के लिये हुआ है।

३—**धर्मशास्त्र के मूल आगम के लिये**—गौतमधर्मसूत्र में निम्न वचन उपलब्ध होते हैं—

यत्र चाम्नायो विदध्यात् ॥१।५।१॥

आम्नायैरविरुद्धाः ॥१०।२२॥

यहां धर्मशास्त्र के मूल आगम **मानवधर्मशास्त्र** के लिये 'आम्नाय' शब्द का व्यहार किया गया है।

४—नाट्यशास्त्र के मूल आगम के लिये—पाणिनि के **छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः** (४।३।१२९) सूत्र में **धर्म** और **आम्नाय** शब्द का सम्बन्ध सर्वसम्मत है। इसलिये यहां 'नट' शब्द से भी 'ञ्य' प्रत्यय धर्म और आम्नाय अर्थ में ही होता है। तदनुसार 'नाट्य' शब्द से नटों का धर्म और नटों का आगम शास्त्र (नाट्यवेद=भरतप्रोक्त नाट्यशास्त्र) का ही व्यवहार होता है। (द्र०—**नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव**। काशिका ४।३।१२९)।

मीमांसाशास्त्र में आम्नाय का प्रयोग—भगवान् जैमिनि ने अपने मीमांसा-शास्त्र में 'आम्नाय' शब्द का बहुत प्रयोग किया है। परन्तु इस शब्द के ऐसे किसी विशिष्ट अर्थ का शास्त्र में संकेत नहीं किया है, जिससे उनका अभिप्राय स्पष्ट जाना जाये।

मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय का अन्तिम अधिकरण (शाबरमतानुसार) **वेदापौरुषेयत्वाधिकरण** है। इसके प्रथम सूत्र **वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः** (१।१।२७) में **वेद** शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। उससे अव्यवहित उत्तर (द्वितीय पाद का प्रथम) **अर्थवादप्रामाण्याधिकरण** है। इसका प्रथम सूत्र है—**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्** (मी० १।२।१) सूत्र में **आम्नाय** शब्द का प्रयोग किया है। इस सूत्र में आम्नाय के क्रियार्थ उपदेश होने से, और उसके 'जो अंश क्रियार्थ नहीं हैं, उनके आनर्थक्य' का आक्षेप उपस्थित करने से स्पष्ट है कि यहां **आम्नाय शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिये प्रयुक्त है।**

इतना ही नहीं, वेदापौरुषेयत्वाधिकरण में **अनित्यदर्शनाच्च** (मी० १।१।२८) में अनित्यदर्शन हेतु दिया है, और उत्तर अर्थवादप्रामाण्याधिकरण में भी **अनित्यसंयोगात्** (मी०१।२।६) हेतु उपस्थित किया है। इस पुनरुक्ति से भी

स्पष्ट है कि पहले जिस **वेद में अनित्यदर्शन हेतु दिया था, उससे यह आम्नाय पृथक् है** । और यहां आम्नाय की अनित्यता=अप्रमाणता में हेतु दिया है ।

इसी कारण हमने शाबरभाष्य की अपनी प्रस्तुत हिन्दी-व्याख्या में (पृष्ठ १६४–१६६) आम्नाय-अन्तर्गत शाखापाठों के अनित्य संयोग और उनका समाधान दर्शाया है । पाठक इस विषय को शाबरभाष्य की व्याख्या में पृष्ठ १६४–१६६ तक देखें ।

मन्त्राधिकरण (मी० १।२।३९) में मन्त्रों के आनर्थक्य पक्ष की दृढ़ता के लिये वेदापौरुषेयत्वाधिकरणवाले दोष को उठाना, और उस दोष का पूर्वोक्त ही समाधान करना युक्त है ।

उपसंहार

इस निबन्ध में प्रधानरूप से कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौत-सूत्रों में पठित **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सूत्र के सम्बन्ध में विचार किया है । इस प्रकरण में हमने एक प्रश्न उपस्थापित किया है कि यह सूत्र केवल कृष्ण यजुर्वेद के ही श्रौत-सूत्रों में क्यों उपलब्ध होता है, ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के श्रौत-सूत्रों में क्यों नहीं मिलता ? इस प्रश्न का सप्रमाण उत्तर आज तक किसी विद्वान् ने नहीं दिया । श्री करपात्री जी ने वेदार्थपारिजात में मेरे उक्त निबन्ध के खण्डन में पचासों पृष्ठ लिखे, परन्तु उक्त प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दिया ।

वस्तुतः इस श्रौतवचन के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों की वेद-संज्ञा मानने वालों के पास उक्त प्रश्न का उत्तर है ही नहीं । यदि कोई किसी पाणिनीय वैयाकरण से पूछे कि पाणिनि ने **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) से आ ऐ औ की वृद्धि संज्ञा और **अदेङ् गुणः** (१।१।२) से अ ए ओ की गुण संज्ञा क्यों की ? तो वह स्पष्ट उत्तर देगा कि पाणिनि ने अपनी शब्दान्वाख्यान-प्रक्रिया की सुगमता और संक्षेप के लिये वृद्धि और गुण कृत्रिम संज्ञाएं की हैं । इन संज्ञाओं का सम्बन्ध केवल पाणिनीय शास्त्र तक ही सीमित है । इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेदीय

श्रौतसूत्रकारों ने ही मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा क्यों कही ? इसका भी यही उत्तर होगा कि उन्होंने अपने शास्त्र की प्रवृत्तिविशेष के लिये मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा कही है। इसलिये इस संज्ञा के व्यवहार का क्षेत्र भी उन-उन श्रौतसूत्रों तक ही सीमित है, जिन में यह सूत्र पठित है।

ऊपर जो प्रश्न उद्भावित किया है उसका उत्तर स्पष्ट है—ऋग्वेद, शुक्ल-यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में मन्त्र और ब्राह्मण पृथक्-पृथक् हैं। इस कारण उन्हें ऐसी संज्ञा रखने की आवश्यकता ही नहीं थी। मन्त्र-संहिताएं वेदरूप से लोक-प्रसिद्ध थीं। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद की जितनी भी शाखाएं उपलब्ध हैं, उनमें मन्त्र और ब्राह्मण का सांकर्य है। यहां लोकप्रसिद्ध वेद शब्द से उसी प्रकार कार्य नहीं चल सकता था जैसे पाणिनीय शास्त्र में लोकप्रसिद्ध वृद्धि और गुण शब्द के ग्रहण से।

इसलिये आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रकारों द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण समुदाय की परिभाषित वेद संज्ञा पाणिनीय वृद्धि गुण संज्ञा के समान कृत्रिम अथवा पारिभाषिक है। कृत्रिम वा पारिभाषिक संज्ञा का क्षेत्र उस शास्त्र तक ही सीमित रहता है, जिस शास्त्र में वह पारिभाषिक संज्ञा की गई है। यह एक सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का श्रौतसूत्रकारोक्त वेद-संज्ञा में उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार श्रुति और आम्नाय संज्ञायें भी पारिभाषिक हैं। यह हम इस निबन्ध में दर्शा चुके हैं। भगवान् जैमिनि ने मन्त्र और ब्राह्मण सम्मिलित की परिभाषा तो नहीं की, तथापि तर्क पाद रूप उपोद्घात के पश्चात् जहां से मन्त्र और ब्राह्मण वचनों का विचार आरम्भ होता है, उस के प्रथम सूत्र **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** में पूर्व आचार्यों द्वारा प्रयुक्त आम्नाय संज्ञा का व्यवहार किया है।

मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा को सार्वत्रिक और सामान्य संज्ञा मानने वाले विद्वान् हमारे इस निबन्ध में उपस्थापित निष्कर्षों का जब तक सप्रमाण

खण्डन नहीं करते, तब तक वे अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिये अथवा अज्ञान-मूलक विश्वास की रक्षा के लिये चाहे कितना ही लिखें, बुद्धिमान् जनों के लिये वह प्रमाणार्ह नहीं हो सकता ।

इस संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि 'वेद' शब्द मुख्यतया मन्त्रों का ही वाचक है । जहां कहीं व्याख्या-व्याख्येयादि हेतु से लक्षण में अथवा पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हो, वहां 'वेद' शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण होता है । परन्तु यह अर्थ गौण=अप्रधान=लाक्षणिक है ॥

———